इमाम हुसैन[अ०] का शहीद होना और इस्लामी संविधान की रक्षा

आयतुल्लाहिलउज़्मा सैयिदुलउलमा सै० अली नक़ी नक़वी ता-ब सराह
अनुवादक- मु० र० आबिद, लखनऊ

इमाम हुसैन[अ०] का शहीद होना इस्लामी संविधान की रक्षा के लिए था। शान्ति काल में शरीअत (इस्लाम-विधि) तो थी किन्तु संविधान की आत्मा बदल दी गयी थी।

इमाम की शहादत पर मौलाना सैय्यद अबुल आला मौदूदी का एक भाषण 'दावत' (उर्दू दैनिक) 10 जुलाई 1960

26 जून को टेम्पिल रोड स्थित एक कोठी में, जिसके निवासी एक शिया धर्म के एडवोकेट हैं, एक मजलिस आयोजित हुई। शामयानों के नीचे कोठी के लान में दरियाँ बिछी हुई थीं, और शियों से ज़्यादा सुन्नी बैठे थे क्योंकि अख़बारों में एलान हो चुका था कि मौलाना अबुल आला मौदूदी 'शहादत का उद्देश' के विषय पर भाषण देंगे। संयोगवश मौसम भी बहुत सुहावना था। रात को हल्की सी फुहार पड़ चुकी थी और सुबह के साढ़े सात बजे आसमान पर हल्का-हल्का सा बादल छाया हुआ था। सभा की जगह पर बिजली के पंखों ने वातावरण को और भी ठंडक दे दी थी। ऐसे में मौलाना अबुल आला मौदूदी भाषण के लिए खड़े हुए।

परम्परागत सबोधन, हम्द (ईश्वर स्तुति) और नात (पैग़म्बर मुहम्मद साहब की सराहना) के बाद कहाः आज मुहर्रम का आरम्भ है और मेरे सामने जो गणमान जमा हैं उनमें शिया और सुन्नी दोनों ही हैं। और वे इस कारण यहाँ आए हैं कि उन्हें अहलेबैत और इमाम हुसैन और इस्लाम से दिल से प्यार है और वह मालूम करना चाहते हैं कि कर्बला में जो घटना सामने आई उसके पीछे उद्देश क्या था जिसके लिए श्रेष्ठ इमाम ने न केवल अपनी जान दे दी बल्कि अपने घर वालों बाल बच्चों को भी कटवा दिया। सवाल यह है कि आख़िर महामहिम इमाम यह चरण लेने पर तैयार क्यों हुए? क्या उस समय समुदाय का धर्म बदल गया था, उसने इस्लाम छोड़कर नास्तिकता अपना ली थी? क्या लोग भगवान को एक मानने से मुकर गए थे? क्या वह नबी (भगवान का संदेश लाने वाले मुहम्मद साहब[स०]) के नबी होने को मान नहीं रहे थे। सामाने की बात है कि इनमें से कोई भी बात नहीं थी। जो बात हुई थी वह यह थी कि देश का संविधान बदल दिया गया था, उसका उद्देश्य बदल दिया गया और छोड़ दिया गया था। महामहिम इमाम इस परस्थिति के सुधार के लिए उठे थे।

जिस संविधान पर अल्लाह के रसूल (ईश-दूत हज़रत मुहम्मद[स०]) ने इस्लामी राज खड़ा किया था और जिस पर 'ख़िलाफ़ते राशिदा' (पुण्य उत्तराधिकार-चार ख़लीफ़ाओं का राज्य) के समय राज का प्रबन्ध चलता रहा था उसका आधार यह थाः देश ईश्वर का है, वही विधि देने वाला (विधाता), वह असल स्वामी मालिक है और शासक, जिसके हाथ में शासन प्रबन्ध की लगाम है, वह अल्लाह की शासकता को स्थापित करे और उसके क़ानून को लागू करना उनका काम है देश का क़ानून इसलिए नहीं कि शासक उसे जनता पर लागू करे बल्कि वह इसलिए है कि राजा प्रजा, शासक शासित दोनों पर बराबर से लागू हो।'

इसका दूसरा सिद्धान्त यह था कि शासक जनता की राय से सत्ता पर आये। लोग उसको इस परिस्थिति में अपना राजा शासक बनायें जबकि वह अभी सत्ता में

नहीं आया है और उसके बाद बैअत (बेचना, अधीनता की शपथ) करें, वह इस तरह से बैअत न ले कि सत्ता पर आ जाए और फिर लोगों से वोट ले। ऐसे में उसका विरोध कौन करेगा और उसकी बैअत कौन न करेगा? सामने है कि कोई नेक सदाचारी संयमी और कर्तव्य का एहसास रखने वाला सत्ता को इस तरह लपक कर न लेगा। बैअत के द्वारा सत्ता में आना एक बात है और सत्ता में आकर बैअत लेना दूसरी बात है। हज़रत हुसैन रज़ियल्लाहो अन्हु (ईश्वर उनसे राज़ी हो जाय) ने देखा कि गाड़ी की दिशा बदल गयी है। अब पहले लोग सत्ता में आये, फिर उन्होंने बैअत ली। इस्लामी संविधान का तीसरा आधार 'परामर्श' है। क़ुरआन में *'अम्रुहुम शूरा बैनिहिम'* (उनके कामकाज में आपसी परामर्श है) की सूक्ति है। इसका सही इस्लामी तरीक़ा यह है कि समाज में जो लोग सम्मति वाले, ज्ञान, ईमानदारी और संयम-सदाचार से भरोसे वाले हों उनको साथ लेकर काम किया जाय। अल्लाह के रसूल[स०] का यही तरीक़ा था। परन्तु 'परामर्श' का एक दूसरा तरीक़ा ग़लत है। और वह यह कि हाँ में हाँ मिलाने वालों में से 'परामर्श समिति' का चुनाव किया जाय। हज़रत हुसैन[रज़ि०] ने देखा कि सही तरीक़ा बदल कर ग़लत तरीक़ा अपना लिया गया। अब 'परामर्श समिति' तो है मगर अपने ही परिवार के लोगों से, अपने ही सम्बन्धियों से, अपने ही सेना नायकों से अपने ही नियुक्त किये हुए राजकर्मियों से चुनी गयी है यानी कुछ स्वार्थी लोग हैं जो सत्ता में आ गये हैं और उन्होंने स्वार्थी लोगों को अपना सलाहकार बना लिया है। सामने है कि जब स्वार्थी सत्ता में हों और स्वार्थी ही सलाहकार तो समुदाय के विरुद्ध सांठगांठ नहीं करेंगे। फिर संविधान में कोषागार की जो इस्लामी धारणा प्रस्तुत की गयी थी, वह यह है कि माल सब ख़ुदा का है और समाज की अमानत (विश्वास में सौंपी हुई चीज़), शासक, राजपाल, सत्ता वाले लोग इसके विश्वासधारी (ट्रस्टी) हैं और इस समाज पर ख़र्च करने के दायी हैं और इसकी पाई-पाई का हिसाब उन्हें ख़ुदा को देना है। ये शासकों, राजकर्मियों और दरबारियों और परिवार के लोगों का माल नहीं और न उन पर ख़र्च करने के लिए है। लेकिन महामहिम इमाम ने दखा कि समुदाय का कोष सम्राट के परिवार की सम्पत्ति बना दिया गया है, मानो समाज उनका उपराज्य है जो उनको कर देता है और उनसे हिसाब पूछने का अधिकार नहीं रखता इसके सम्बन्ध में कि यह माल कहाँ से आया, कैसे आया, और न ख़र्च के बारे में कि कहाँ ख़र्च किया, और समुदाय की स्थिति दुधारु गाय की है जिस पर जितना ज़ुल्म करके दूध निचोड़ सकते हो निचोड़ लो।

इसके अलावा संविधान में न्याय और क़ानून की धारणा यह थी किः 'हर व्यक्ति क़ानून के अधीन है, उसके ऊपर नहीं, कोई परिवार, कोई गुट ऐसा नहीं जिस पर क़ानून लागू न हो सके। न्याय सबके लिए बराबर और बेलाग हो और सब पर लागू हो और जज जब नियुक्त हो जाय तो वह अपने ज्ञान, विवेक और सम्मति के अनुसार फैसला करने में बिल्कुल आज़ाद हो, उस पर दबाव डालने वाला कोई न हो।

इसके पहले परिस्थिति ऐसी ही थी, मगर अब जो बदलाव हुआ था, वह यह था कि क़ानून और अदालत की दो धारणाएं पैदा हो गई थीं। पहली यह कि बादशाह, परिवार, उसके जुड़े हुए क़रीबी और राजकर्मी क़ानून के लिए हैं (क़ानून) उनके लिए नहीं है। और दूसरे यह कि ऐसे जज नियुक्त किये जाते थे जो फैसला करने में आज़ाद नहीं थे। उनको ऊपर से चिट्ठियाँ जाती थीं कि उस मुक़द्दमे में इस तरह फैसला किया जाय। यानी न्यायपालिका कार्यपालिका के अधीन होकर रह गयी थी।

यह था वह चित्र जो संविधान के बारे में इमाम ने देखा कि बन रहा है। अगर बात लोगों की होती तो सहन किया जा सकता था। मगर वह देख रहे थे कि यह पद्धति सिस्टम ही बदल रही है और अगर ग़लत सिस्टम ही स्थापित हो गया तो उसका बदलना असम्भव हो जायेगा और सच्चाई सदा के लिए गुम होकर रह जायगी।

इमाम[अ०] का शहीद होना और इस्लामी संविधान

(आयतुल्लाहिल उज़्मा सैय्यदुल उलमा सैय्यद अली नक़ी नक़वी)

26 जून 1960 की घटना है कि टेम्पिल रोड

(लाहौर) पर स्थित एक कोठी में एक मजलिस आयोजित हुई और उसकी कार्रवाई 'जमाअते इस्लामी हिन्दुस्तान' के अख़बार 'दावत' दिल्ली में 10 जुलाई 1960 को प्रकाशित हुई थी, जिसका सार मोटे अक्षरों की इन शीर्षकों से व्यक्त किया गया था जो लेख के ऊपर अंकित हैः-

पहली शीर्षकः इमाम हुसैन[अ०] की शहादत इस्लामी संविधान की रक्षा के लिए थी।

दूसरी शीर्षकः उनके काल में शरीअत (इस्लामी विधि) मौजूद थी किन्तु संविधान की आत्मा बदल दी गई थी।

इसके अन्तर्गत मौलाना (अबुल आला मौदूदी) कहते हैं:

''आख़िर महामहिम इमाम यह चरण उठाने पर क्यों तैयार हुए। क्या उस समय समुदाय का धर्म बदल गया था? उसने इस्लाम छोड़कर नास्तिकता अपना ली थी। क्या लोग ख़ुदा को मानने से मुकर गये थे। खुला है कि इनमें से कोई बात नहीं थी। जो बात हुई थी वह यह थी कि देश का संविधान बदल गया था, उसकी आत्मा बदल गई थी। उसका उद्देश्य बदल गया था और छोड़ दिया गया था। और महामहिम इमाम इस परिस्थिति के सुधार के लिए उठे थे।''

इस क्रम में सबसे पहली बात यह महसूस होती है कि जनाब मौदूदी साहब ने एक ऐसे माहौल में जहाँ वह राजनीतिकी पर खुले हुए स्टेज से कोई आवाज़ उठा नहीं सकते थे, हज़रत इमाम हुसैन की मजलिस को राजनैतिक दृष्टिकोण के संचार का माध्यम बनाया है। और कुछ शियों ने उद्देश्य में एक होने के आधार पर और कुछ ने अत्याचार के मारे हुए इमाम से प्रेम में इस अवसर को यही भला जान कर कि मौलाना मौदूदी इमाम हुसैन[अ०] के ज़ाकिर के रूप में मिंबर पर आ रहे हैं उनके साथ में साथ दिया। मगर हम समझते हैं कि मौदूदी साहब को हुसैन की मजलिस को इस उद्देश्य के लिए उपयोग करना जहाँ इस प्रकार के मतों की अभिव्यक्ति ख़तरे से भरी हो, इमाम की मजलिस के साथ कोई हितैषी वाला व्यवहार नहीं है।

दूसरा सैद्धान्तिक सवाल जो मौलाना के इस भाषण से पैदा होता है, यह है कि कर्बला की घटना में हज़रत इमाम हुसैन की ओर से पहल थी या आप के विरूद्ध दमिश्क़ (शाम) की सरकार की ओर से थी जिसका सामना आपने सहन, धैर्य और दृढ़ता से किया।

जनाब मौदूदी साहब के ये शब्द हैं कि 'महामहिम इमाम यह चरण उठाने पर क्यों तैयार हुए' फिर आख़िर उन्होंने कहा 'देश का संविधान बदल गया था और महामहिम इमाम इस परस्थिति के सुधार के लिए उठे थे' कुछ ऐसी सोच पैदा करते हैं कि पहल आपकी ओर से थी और इसके लिए मौलाना को यह सोचने की आवश्यक्ता महसूस हो रही है कि आप पहल पर क्यों तैयार हुए।

तीसरा सवाल- हज़रत के चरण को इस बात से हटकर कि वह पहल करने में था या जवाबी और टकराव, यह ख़ास बात है कि जनाब मौदूदी साहब ने हज़रत (इमाम) के चरण का प्रतिपक्ष मुस्लिम जनता को ठहराया है और इसलिए यह सवाल पैदा किये हैं कि उस समय समुदाय का धर्म बदल गया था, उसने इस्लाम को छोड़कर नास्तिक्ता अपना ली थी? क्या लोग ख़ुदा को मानने से मुकर गये थे या वे नबी[स०] के नबी होने से मुकर गये थे फिर इस सब बातों का जवाब 'नहीं' में देते हुए कहते हैं किः 'सामने की बात है कि इनमें से कोई भी बात नहीं थी।

जबकि आपके टकराव और (धर्म) संग्राम की टक्कर कोई सीधी जनता से न थी। आपका टकराव तो दमिश्क़ राज से था जिसका जनता से बस इतना सम्बन्ध था कि उस राज के काले करतूतों और अत्याचारों के सामने जनमानस में जो संवेदनहीनता पाई जाती थी, वह दूर हो और भावना के साथ-साथ उनमें अभिव्यक्ति का इतना साहस पैदा हो जाए कि वह अपने मुँह से अपने अन्तः करण की आवाज़ को ऊँचा कर सकें।

चौथा सवाल, राज का संविधान बदल दिया गया था, इसके माने ये है कि राज्य का कोई नियमित संविधान न था। अब देखने की ज़रूरत है कि राज्य के लिए यह संविधान 'वहि' के आधार पर था या मुसलमानों ने मनचाहे तरीक़े पर बनाया था, और यह विधान शुरु से

एक सा रहा था या उसके पहले भी उसमें बराबर बदलाव होता रहा था, और अगर उसमें बराबर बदलाव होता रहा था तो अब उस समय वह बदलाव विशेष क्या था जो असहनीय था? जब तक इन बातों की व्याख्या न हो, कर्बला से यह राजनैतिक लाभ उठाना कि राज्य के विधान की समस्या ऐसी भेंट चाहती है, जैसी हज़रत इमाम हुसैन ने कर्बला में प्रस्तुत की, इसकी मूल्यतयः कोई प्रौढ़ स्थिति नहीं थी।

पाँचवां सवाल राज का विधान बदल गया था, महामहिम इमाम इस परिस्थिति के सुधार के लिए उठे थे।

इस से सम्प्रदायिक भेद के बारे में यह नतीजा निकलता है कि उस से पहले जो राज विधान लागू था, उसे हज़रत इमाम हुसैन और उनके पहले वाले सही समझते थे जबकि वास्तव में रसूल हज़रत मुहम्मद[स०] के बाद सामाजिक प्रणाली का विधान बदल दिया गया था। इस बदलाव के नतीजे ने बराबर भेंट क़ुरबानियाँ दी जाती रही थीं। इसी से यह सच है कि इस क्रम की सबसे पहली क़ुरबानी इस्लाम की महान महिला, हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[स०] की थी। हज़रत अली[अ०] का पूरा जीवन इस कुप्रणाली के विरूध संघर्ष में बीता। फिर इसकी कुप्रणाली के हानिकारक प्रभावों को सीमित करने की एक संभावित कोशिश थी जो हज़रत इमाम हसन[अ०] ने संधि के रूप में पूरी की थी। अब इसी कुप्रणाली के 'अत्याचार' का अन्त था जिसके टकराव में हज़रत इमाम हुसैन ने यह अन्तिम क़ुरबानी दी। इसने अपने दूरगामी प्राभावों से कुप्रणाली की सारी कठिनाइयों के असत्य होने पर अजय मुहर लगा दी।

सब से अन्त में छटी बात यह है कि आज सवा तेरह सौ बरस के बाद भी हज़रत इमाम हुसैन[अ०] के चरण की वजह बताते हुए लिखते हैं कि शरीयत (इस्लाम-विधान) में कोई बदलाव न हुआ था और समुदाय में इस्लाम धर्म से कोई विचलन न हुआ था। बस देश राज्य का विधान बदल गया था, इसलिए हज़रत इमाम हुसैन[अ०] ने ये क़दम उठाया, मगर ख़ुद हज़रत इमाम हुसैन[अ०] ने करबला से पहले और करबला में आशूर (दसवीं मुहर्रम) की अस्र (तीसरे पहर) तक कितने प्रवचन-व्याख्यान दिये, उनमें देखना चाहिए कि आपने अपनी कार्यप्रणाली को कभी भी उस राजनैतिक आधार पर टिका नहीं ठहराया? अगर ऐसा नहीं है और निश्चय ही ऐसा नहीं है, तो मानने पड़ेगा कि ये ग़लत फ़ायदा है जो कुछ आपात परिस्थितियों के आधार पर हुसैनी कारनामे से उठाया जा रहा है और वह किसी तरह वास्तविक सच्चाई के अनुसार नहीं है।

जनाब मौदूदी साहब कहते हैं: जिस विधान पर रसूल[स०] ने इस्लामी राज्य स्थापित किया था और जिस पर चार ख़लीफ़ा (जो राशिद याने सीधा रास्ता पाने वाले कहलाते थे) की राज्य-प्रणाली चलती रही उसका आधार यह थाः राज्य ख़ुदा का है, वही विधि देने वाला है, वही असल स्वामी और मालिक है और शासक जिसके हाथ में प्रबन्ध की बागडोर है, वह अल्लाह की राजसत्ता (शासकता) को स्थापित करने और उसकी विधि को लागू करने पर कृत्त है। राज्य का क़ानून इसलिए नहीं है कि शासक उसे जनता पर लागू करे बल्कि वह इसलिए है कि शासक और शासित, राजा और प्रजा दोनों पर लागू हो। उसका दूसरा सिद्धान्त यह था कि शासन जनमत से सत्ता पर आये, लोग उसको इस स्थिति में अपना शासक और राजपाल नियुक्त करें जबकि अभी वह सत्ता में नहीं आया है और उसके बाद उसकी बैअत करें, वह इस तरह से बैअत न ले कि सत्ता में आ जाए और फिर लोगों से वोट ले। ऐसी हालत में उसका विरोध कौन करेगा? और उसकी बैअत कौन न करेगा? खुली बात है कि सदाचारी, नेक और संयमी (मुत्तक़ी) और दायित्व भाव रखने वाला सत्ता को इस प्रकार लपक कर न लेगा।

बैअत के द्वारा सत्ता पर आना, एक चीज़ है और सत्ता पर आकर बैअत लेना दूसरी चीज़ है। हज़रत हुसैन[अ०] ने देखा कि गाड़ी की दिशा बदल गई है, अब पहले लोग सत्ता पर आये और फिर उन लोगों से बैअत ली।

ये सब कुछ एक सांस में मौलाना कह गये हैं। कितनी बातें चर्चा चाहती हैं, उस सबमें जो मानी हुई सच

बातें हैं वे इतनी है कि 'मुल्क/राज्य ख़ुदा का है, वही क़ानून देने वाला है, वही असल स्वामी मालिक है।

मगर इसका क्या मतलब है? क्या जो इसके बाद मौलाना ने कहा है, राज्य उसका है और असल मालिक स्वामी वह है, तो अब शासक जो इस क़ानून को लागू करने वाला है किसकी ओर से होना चाहिए? उसकी ओर से या जनता की ओर से जिनको क़ानून के द्वारा ठीक करना है। खुली बात है कि वह जनता चुनेगी तो अपने ही मतलब का चुनेगी। कभी भी ऐसा नहीं हो सकता, वह सच्चे मालिक स्वामी की इच्छा पूरी करे। इसके माने यह हैं कि मौलाना का पहला सिद्धान्त कि असल मालिक ख़ुदा है और राज्य उसका है और दूसरा सिद्धान्त कि शासक जनता की राय से सत्ता पर आये, दोनों आपस में टकरा रहे हैं।

अगर शासक को जनता की राय से सत्ता पर आना चाहिए तो फिर कहये कि राज्य जनता का है, असल में शासक जनता है जो आजकल के जनतंत्र का आधार है और अगर आप कहते हैं कि मुल्क ख़ुदा है और असल शासक ख़ुदा है तो फिर जिसके हाथ में राज की बागडोर होने का अधिकार है वह वही होगा जो उसकी ओर से नियुक्त किया हुआ हो। जनता को नियुक्ति का अधिकार देना ग़लत होगा।

आप कहते हैं किः

'लोग उसको इस हाल में अपना राजपाल और शासक नियुक्त करें, जबकि वह अभी सत्ता में न आया हो और इसके बाद उसकी बैअत करें, वह इस तरह लोगों से बैअत न ले कि सत्ता पर आ जाये और फिर लोगों से वोट ले।

बात तो सामने से सुन्दर है मगर क्या मौलाना बता सकेंगे कि हज़रत अली की ख़िलाफ़त को छोड़कर जो जनतंत्र के विचार बिन्दु से चौथी श्रेणी में मानी गई कि वह ऐसे में थी कि आप सामने से पहले सत्ता पर नहीं आये थे। पहले की दूसरी कोई भी ख़िलाफ़त क्या ऐसी है जिसमें यह शर्त मिले। हम तो यही देखते हैं कि हर जगह सत्ता किसी और तरह बना ली गयी फिर बाद में लोगों से बैअत ली गयी है यानी बीच के थोड़े से समय को छोड़कर यूँ ही बराबर गाड़ी चली है कि पहले लोग सत्ता में आ गये और फिर उन्होंने लोगों बैअत ली। अगर मौलाना ज़्यादा आगे देखने का कष्ट न भी करें तो ख़ुद यज़ीद के पहले अमीरे शाम (हज़रत मुआविया) को देख लें कि जिस समय से उनकी ख़िलाफ़त मानी जाती है वह उसके पहले से सत्ता में थे या नहीं?

अब अगर यह शर्त भी न मिले तो मौलाना का अन्तःकरण की आज़ादी और अभिव्यक्ति के साहस से काम लेकर साफ़ एलान करना चाहिए कि ख़ुद अमीरे शाम ही की ख़िलाफ़त ग़लत थी जिन्होंने यज़ीद को अपना युवराज/उत्तराधिकारी बनाया तो अब यज़ीद की ख़िलाफ़त के सही होने का सवाल ही कहाँ रह जाता है?

बेशक इसके बाद यह सवाल बेहल के रह जायेगा कि फिर यज़ीद के यहाँ क्या ख़ास बात थी जो हज़रत इमाम हुसैन[अ०] ने इतनी महान क़ुरबानी दी? मैं नहीं समझता कि मौलाना इस आधार के ग़लत साबित होने के बाद अब इसका क्या जवाब देंगे? मगर मेरे पास इसका यह जवाब है कि पहले की ऐसी ख़िलाफ़तों में भी धर्म के रक्षकों ने जो इस्लाम के सिद्धान्तों के संरक्षक थे, बैअत नहीं की थी, मगर इस काल से सत्ताधारी लोग उस अन्तिम चरण के लिए तैयार नहीं हुए, जिसके लिए यज़ीद तैयार हो गया और इसलिए इमाम हुसैन[अ०] को वही क़ुरबानी देना पड़ी जिसकी याद आदर्श रूप में अमर बनी हुई है।

इसके अलावा यह वास्तविक है कि पहले धर्मविधि का विरोध इतना खुलकर न हुआ था जिस तरह अब यज़ीद खुलकर काले करतूतों में लिप्त हो गया। इसलिए इस कहावत के अनुसार कि "अगर (ऊँट की) गद्दी को भारी देखा, यात्राधुन की आवाज़ तेज़ कर दो" उस समय इस्लामी समाज को जगाने के लिए एक ज़्यादा खुली क़ुरबानी देने की ज़रूरत थी जो उनके अन्तर्मन को झिंझोड़ दे।

इसलिए हुआ यह कि उस ग़लत सिस्टम के टकराव में क़ुरबानियों का सिलसिला तो रसूल[स०] के बाद

से चल पड़ा था लेकिन जितने असत्य सत्ता के उठाए पगों में कड़ाई हुई उतना-उतना उसके टकराव में सत्य के मिशन को तेज़ करने की ज़रूरत थी, यहाँ तक कि जब पानी सर से ऊँचा होकर यज़ीद के बिन्दु तक पहुँचा तो उसके मुक़ाबले में हुसैनी चरित्र के सामने आने की ज़रूरत पड़ी, जिसने वह पूरी कुरबानी सामने कर दी कि 'यज़ीदत्व' सदा के लिए कुनाम हो गया, फिर कभी साम्राज्य को यह साहस न हुआ कि धर्मविधि के प्रतिनिधि का सर अपने सामने झुकवाने की कोशिश करे।

आप कहते हैं: ''इस्लामी विधान का तीसरा आधार सलाह/परामर्श है''।

हमें इस बारे में ये मालूम करना है कि यह विधान संकलित रूप में कुरआन या हदीस में किस जगह अंकित है। बेशक एक जगह कुरआन में यह वाक्य है कि 'अपने कानों में आपस में सलाह करो' मगर वह तो आपस की बातों को जो खुद जनता को अपने बीच तय करना हैं, कहा जा रहा है कि, प्रभुसत्ता पर इसका पालन कब और कैसे ज़रूरी होता है।

आप कहते हैं कि- अल्लाह के रसूल (मुहम्मद साहब[स०]) का यही चलन था।'' ऐसे में क्या आप पर सबूत देने का दायित्व नहीं आता कि आप यह दिखलायें कि हज़रत रसूल[स०] ने कहाँ-कहाँ और कब 'सलाह' का पालन किया? क्या नमाज़ की रकअतें सलाह से तय हुईं? क्या रोज़ों की गिनती सलाह से तय हुई? क्या जिहाद के नियम सलाह से बने? फिर क्या हुदैबिया में समझौता सलाह के बाद किया गया? अगर सलाह के बाद किया गया होता तो उस पर जनसाधारण ही में नहीं विशिष्ट लोगों में भी वह बेचैनी क्यों होती जो लगातार तरीक़े से इतिहास और हदीस में अंकित है।

क्या उसामा की सेना के कूच का आदेश सलाह मशविरे से था? जबकि सहाबा और बहुत से बड़ों के मन के आदेश का न भाना इससे सामने आता है कि आप[स०] बार-बार इसका हुक्म लगा रहे थे मगर किसी तरह इसका पालन नहीं हो रहा था जिस पर रसूल[स०] को बहुत ही कड़े शब्दों में अपना आक्रोष जताने की नौबत आई। फिर क्या उसामा का नायक बनाना यह खुद क्या परामर्श सलाह पर आधारित था जबकि इस पर दूसरे लोगों के भड़क जाने के जताने के लिए हज़रत[स०] के ये शब्द भी सुरक्षित हैं कि तुम लोगों ने इसके पहले उनके बाप (जनाब ज़ैद बिन हारसा) की सरदारी को पसन्द नहीं किया था, अब तुम उनकी सरदारी को पसन्द नहीं कर रहे हो। इस बारे में जब पहले ख़लीफ़ा ने खुद अपने राजकाल में सलाह मशविरे का पास कुछ न किया यहाँ तक कि आपके ये शब्द आये हैं कि अगर रसूल[स०] की धर्मपत्नियों की टाँगें पकड़-पकड़ कर कुत्ते घसीटकर ले जायें तब भी मैं इस सेना को भेजे बिना न रहूँगा।

ख़ालिद बिन वलीद को हज़रत उमर के आग्रह पर भी निलम्बित न करना ऐसी कितनी बातें आपको दिखाई देंगी जिन में परामर्श सलाह न की गई बल्कि दूसरों की राय की अनदेखी की गई।

ऐसे ही हर राजकाल में आपको मिल जायेगा यहाँ तक कि जनाब उसमान का ख़िलाफ़त न छोड़ने पर हट, मरवान के मशविरों पर चलते रहने पर डटे रहना, राजयिकों के निलम्बल को न मानना ऐसी कितनी बातें हैं जिनमें मशविरा-परामर्श का कोई काम हमें नहीं दिखाई देता फिर जनाब मौदूदी साहब किसी तरह कह रहे हैं कि:

'इस्लामी विधान का तीसरा आधार मशविरा-परामर्श है।' बहरहाल इस बारे में जनाब मौदूदी साहब का कहना बड़ा मोल रखता है कि 'जब स्वार्थी सत्ता पर हों और स्वार्थी ही परामर्श-मशविरा देने वाले, तो वह समुदाय के विरोध षडयंत्र ही करेंगे।

इसके साथ और इसमें यह भी बढ़ाने का साहस क़बूल हो कि जब स्वार्थी परामर्श करके किसी को सत्ता पर बनायें तो उसमें भी ज़्यादा सम्भावना यही है कि वे समुदाय के विरूद्ध षडयंत्र ही हो।

यही वह असल आधार है कि जिस पर यह षडयंत्री सिस्टम बनता है जिसके परिणाम में यज़ीद ऐसा व्यक्त सत्ता पर आया और जिसके विरोध में इमाम हुसैन[अ०] को यह ऐतिहासिक कुरबानी देना पड़ी।